सींखचों में कैद लेखनी

अमीना हुसैन

एक कथा साहित्य लेखिका का सबसे बड़ा खौफ़ होता है विषय का अभाव या फिर भावों की अभिव्यक्ति में शून्यता। आम तौर पर लेखिका की भाव शून्यता की कल्पना करने पर आंखों के सामने कलम हाथ में लिए बैठी स्त्री की छवि कौंधती है जो अपने अंतरमन में बैठे विचारों को कहानी के रूप में उकेर पाने में कामयाब न हो पा रही हो या फिर जिसे कथा कहने के लिए प्रेरणा ही न मिल रही हो। पर आज मैं एक अन्य तरह की लेखन भावशून्यता की बात कर रही हूं। ये ऐसी बाधा है जो बाहरी दुनिया द्वारा पैदा की जाती है। यह इतनी कठोर है कि लेखिका को रुककर सोचने पर बाध्य कर देती है कि वह क्या लिख रही है और क्यों?

मैं कोई बहुत पुरानी लेखिका नहीं हूं। 1999 में पहला कहानी संग्रह *फ़िफ़टीन* छपा था और उसके बाद ही मैंने अपना देश श्रीलंका छोड़ दिया था। मुझे खुशी है कि मैंने अपना देश छोड़ दिया था; मूल नारीवादी आधार पर लिखी कहानियों को पढ़ते समय मैं नहीं चाहती थी कि मैं आम लोगों के सामने खड़ी रहूं। हालांकि मेरी कहानियों में अनेक परिस्थितियां और समुदायों का ज़िक्र था पर अधिकांश मुस्लिम समुदाय में बसी थीं और नारीवादी नज़रिए का प्रमाण थी। मेरी सबसे यादगार समीक्षा में मुझे पुरुषों से नफ़रत करने वाली कहा गया था। और ऐसा कहने वाला पुरुष भी मुस्लिम समुदाय का ही था। खैर मैं बड़े सस्ते में छूट गई थी।

मेरा दूसरा कहानी संग्रह एक नई दिशा की ओर मुखातिब था। यद्यपि मेरी ज़्यादातर कहानियां श्रीलंका से बाहर रहकर लिखी गई थी फिर भी देश के जातीय संघर्ष का उनमें खासा महत्व था। इसकी एक कहानी का नाम था *मुस्लिम ऑन द पेरिफेरी* यानी परिधि से बाहर मुस्लिम। संग्रह में इस कहानी को बेहद प्रखरता से बम धमाके में मारे गए फल वाले और सूखा पीड़ित क्षेत्र की एक कहानी के बीच में स्थान दिया गया था। इस कहानी पर कुछ एक-आध मुस्लिम पाठकों की निजी टिप्पणियां सुनने को मिली जो इस कथा के साथ एक सामंजस्य बैठा पाए थे। पर अधिकांश समुदाय ने इसे महत्वहीन समझ कर नज़रअंदाज़ करना उचित समझा। दिल ही दिल में मैं इस प्रतिक्रिया से खुश थी।

इस साल प्रकाशित मेरा पहले उपन्यास को बेहिचक श्रीलंका की मुसलमान लेखिका के प्रथम उपन्यास के खिताब से नवाज़ा गया है। पहचान, धर्म, नस्ल तथा अन्य सामाजिक कारकों को उजागर करने वाली मध्यमवर्गीय परिवार की यह कहानी लगभग सभी समुदायों के पाठकों को पसंद आई है। मुस्लिम व गैर मुस्लिम समुदाय के लोग अलग-अलग कारणों से इस कहानी को पसंद कर रहे हैं।

"श्रीलंका की मुसलमान लेखिका" यह मेरी जातीय पहचान है जो न चाहते हुए भी मेरे नाम से जुड़ गई है।

अगर मेरा बस चलता तो मैं सिर्फ़ एक लेखिका कहलाना पसंद करती। पर दुनिया में 'लेबल' का खास महत्व है और आज के दौर का खास लेबल 'मुस्लिम' है। और फिर मेरा नाम, मेरा समुदाय और मेरी कहानियों का विषय सभी तो मेरी 'श्रीलंका की मुसलमान लेखिका' होने की सच्चाई को रेखांकित करते हैं।

श्रीलंका में लगभग आठ प्रतिशत लोग मुसलमान हैं। हमारा समुदाय अमीर नहीं है जबकि अधिकांश लोग समझते हैं कि हम लोग शातिर व्यवसायी है जो समद्ध तो हैं पर पैसा पानी की तरह खर्च करते हैं। पर सच तो यह है कि अधिकांश गरीब, खेतीहर, निम्न मध्यवर्गीय व्यापारी हैं और एक छोटा हिस्सा शिक्षित व्यवसायी वर्ग का है। इस समुदाय में मेरी कहानियां पढ़ने वाला पाठक वर्ग बहुत छोटा सा है। मैं अंग्रेज़ी में लिखती हूं और मेरा समुदाय तमिल-भाषी है। कुछ लोग सिंघला या अंग्रेज़ी बोलते हैं। इससे भी कम लोग अंग्रेज़ी पढ़ते हैं और कहानी पढ़ने वाले और भी कम हैं।

पर फिर भी जब मैं मुस्लिम समुदाय से जुड़े मुद्दे अपनी कहानियों में उठाती हूं तो एक बोझ मुझे चारों ओर से घेरे रहता है। लिखते समय मैं कुछ खास खण्डों को बार-बार पढ़ती हूं, उनमें फेर-बदल करती हूं जब तक मुझे यकीन नहीं होता कि उन जुमलों को अन्यथा नहीं लिया जाएगा या कोई उनसे नाराज़ नहीं होगा। मैं अपनी लेखनी पर फतवा जारी किए जाने या मृत्यु करार दिए जाने से बहुत डरती हूं।

इस व्यवहार ने मुझे सोचने पर मजबूर कर दिया है। हम मुस्लिम समुदाय के लोग अपने लेखन को उसी प्रकार ग्रहण क्यों नहीं करते जैसे ईसाई लोग *द डा विंची कोड* या *द लास्ट टेम्पटेशन ऑफ़ क्राईस्ट* को देखते हैं?

हां, उस समुदाय ने अपना विरोध जताया था, प्रतिरोध भी किया था पर इन रचनाओं का उन्हें यथोचित महत्व भी दिया गया था। दूसरे धर्मों में भी किस्से इससे अलग नहीं रहे है। अंग्रेज़ी बी-ग्रेड फ़िल्म *म्यूज़िक एण्ड लिरिक्स* में एक अर्द्ध-नग्न स्त्री गौतम बुद्ध की प्रतिमा के सामने रक्स करती है। इस दृश्य पर बौद्ध समुदाय ने अपना विरोध जताया पर फ़िल्म का प्रदर्शन बंद नहीं हुआ। मैल गिबसन की फ़िल्म *द पैशन* की यहूदियों ने मुखालफ़त की पर फ़िल्म करोड़ों लोगों ने देखी थी।

यहां मेरा स्वतंत्रता के लिए झंडा उठाकर पैरवी या किसी को ठेस पहुंचाने का मकसद नहीं है। मैं केवल अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की बात पर ज़ोर देना चाहती हूं। जिस तरह स्वतंत्रता के साथ ज़िम्मेदारी आती है उसी प्रकार किसी अन्य नज़रिए को पेश करने की स्वतंत्रता का हक़ भी अहमियत रखता है। मुस्लिम समाज में मुझे इस अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की कमी महसूस होती है। और इसी कमी का खामियाज़ा हम भुगत रहे हैं।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अभाव में हमारे पास क्या बचा रह पाएगा? न तो हमारे पास नए विचार होंगे जो हमारे ज़ेहन को झकझोरेगें, न ही किन्ही गैर आरामदायक बातों पर हम बहस करेंगे और न ही हमारे पास कल्पना के पंख होगे। इसका यह भी अर्थ हुआ कि कोई रश्दी या जलालुद्दीन रूमी हमारे बीच नहीं पाए जाएंगे। इसका यह भी अभिप्राय हुआ कि हमें खुद से यह मुश्किल सवाल पूछना होगा कि ज्ञान, विमर्श, शिक्षा, साहित्य इत्यादि के लिए मशहूर मुस्लिम समाज आज केवल आतंकवाद के लिए ही प्रसिद्ध क्यों है? आखिर ऐसा क्या हो गया है?

अगर हमारे समाज का यह प्रतिगमन इसी प्रकार बढ़ने दिया गया तो एक मुट्ठी भर बीमार मानसिकता वाले मुसलमान लोग हमारी संस्कृति, हमारे धर्म और हमारे समुदाय को गुमनामी के अंधे कुएं में ढकेलते रहेंगे। और इस त्रासदी के लिए हम स्वयं ज़िम्मेदार होगें क्योंकि हम ऐसा होने दे रहे हैं। अगर लेखक और चिन्तक मुस्लिम समाज को नए विचारों, प्रवर्तित सोच और अग्रणी सिद्धान्तों से चुनौती देने से डरते रहेंगे तो यह बेहद अफ़सोसजनक हालात हैं। अगर हम इस बात को नहीं समझते कि कहीं कुछ बहुत गलत हो चुका है जिसे हमें सुधारना है और यह कि इस्लाम के अनुसार समाज का सही स्वरूप इतना संकुचित नहीं है तो हम बड़ी मुश्किल में हैं। और तब लेखक और लेखिकाओं की यह भावशून्यता हमारे समाज की जड़ों को खोखला करती रहेगी।